विचारधारा के सवाल

प्रफुल्ल कोलख्यान

ये दाग दाग उजाला ये शबगाजिदाह सहर
वो इंतजार था जिसका ये वे सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं जिसकी आरजू लेकर
चले थे यार कि मिल जाएगी कहीं न कहीं

....

अभी गिरानी ए शब में कमी नहीं आई
चले चलो कि वो मंजिल अभी नहीं आई 1

- फ़ैज अहमद फ़ैज

1.निर्विचार के भ्रम के प्रस्ताव में विचारधारा

विचारधारा को लेकर काफी तेज विमर्श हमारे समय में रहा है। विचारधारा और विचारधाराओं को लेकर विभिन्न कोणों से बहस चलती रही है। कहना न होगा कि ऐसी बहस असामाप्य ही होती है। विचारधारा को लेकर साफ और तीखा मंतव्य हमारे समय में सामने आया है, जैसी बहस चल निकली है, वैसी बहस शायद ही पहले कभी रही हो। इसके साथ ही यह कि विचार की दुनिया में धुंध और धुआँ का जैसा रंगीन और रंगहीन खेल हमारे समय में हो रहा है, वैसा खेल भी पहले कभी शायद ही हुआ हो! खट्टे-मिट्ठे रसायनों की सक्रियता अपनी जगह है। सच और झूठ इतने बेहतर पड़ोसी पहले कभी नहीं थे। 'राम'[2] और 'रावण'[3] एक ही 'भवन के कक्षों'[4] में अब रहते हैं और 'सीता'[5] दोनों ही कक्षाधिपतियों की सेवा जरूरतों को पूरा करने में 'खपती रहती'[6] है। सीता का संबंध वरण करनेवाले 'राम'

और हरण करनेवाले 'रावण' से पहले जैसा आज नहीं है। 'बालि' और 'सुग्रीव' के 'किष्किंधा' की बयार ही नहीं 'लंका' और 'अयोध्या' की बयार भी काफी बदली हुई है। झूठ का सच से इस तरह का रणनीतिक गठबंधन पहले कभी नहीं हुआ। पूरी 'रामायण' ही एक नयी गड़बड़-गठन के सम्मुख है।

एक समांतर आभासी दुनिया हमेशा आस-पास मँडराती रहती है। महसूस किया जा सकता है सभ्यता के एक अंश के विभिन्न जीवन-स्तर तेजी से सिमटकर सुगम होते जा रहे हैं तो सभ्यता के दूसरे अंश के विभिन्न जीवन-स्तर उतनी ही तेजी से छिटककर दुर्गम होते जा रहे हैं। एक ओर राजमार्ग चौड़े होते जा रहे हैं तो दूसरी ओर पड़ोस में जाने की पगडंडियाँ अधिकाधिक संकीर्ण और कंटकाकीर्ण होती जा रही हैं। एक ओर निर्भ्रांत संवाद की जरूरतें बढ़ रही हैं तो दूसरी ओर भाषा समेत संवाद के संसाधनों के मूल चरित्र में अर्थ के बहकावों और भटकावों का पूर्ण विन्यास होता जा रहा है। इस सब के नैपथ्य में मुस्कुरा रहा है दुनिया दखल का साम्राज्यवादी अंदाज और मंच पर नाच रहा है– उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण; अर्थात, उनिभू। उनिभू आज की दुनिया में केंद्रीय विमर्श है। लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विमर्शों की शुरुआत इस उनिभू से होती है और फिर नाचते-नाचते इन विमर्शों की बहस उसी उनिभू में समा जाती है। इस उनिभू का वाहन है– बाजारवाद। यहाँ बाजारवाद और बाजार के अंतर को ध्यान में रखना जरूरी है। अंतर यह कि बाजार जीवन को मनोरम बनाने के लिए जरूरी विनिमय का आधार रचता है और बाजारवाद जीवन के सारे कठिन-कोमल प्रसंगों को भी पण्य बना देने पर आमादा रहता है। सावधानी की जरूरत इसलिए भी है के बाजारवाद अपने विरोध को बाजार के विरोध में प्रचारित करता है। यह ठीक वैसे ही होता है जैसे धर्म पर आधारित सांप्रदायिकता अपने विरोध को धर्म के विरोध के रूप में प्रचारित करती है।

उनिभू प्रक्रिया के अंतर्गत सक्रिय बाजारवाद के प्रभाव से देश और दुनिया में बहुत तेजी से बदलाव आ रहे हैं। इन बदलावों के आशय क्या हैं? क्या सचमुच बदलाव की यह प्रक्रिया अपने आशय, सार या अपनी अंतिम परिणति में अनिवार्यत: प्रगति और मनुष्य विरोधी ही है या यह किसी हद तक मनुष्य के पक्ष में भी है? भूमंडलीकरण के इस दौर में आकर दुनिया वही नहीं रह गई है,जो इसके पहले थी। सारी अवधारणाओं में बदलाव घटित हो रहे हैं। कहा जा सकता है कि सभ्यता में आये इस उन्मेष ने सभ्यता के पाठ को बदल दिया है।विचारधाराओं का गठन सभ्यता के विकास क्रम की ऐतिहासिकता में हुआ। कहना न होगा कि सभ्यता के विकास-क्रम के इस ऐतिहासिक दौर में विचारधाराओं को अपने नये पाठ को समझना और सँजोना है। सदी के पार विचारधारा के सवाल पर विचार करने का उद्देश्य अपनी

विचारधरा के नये पाठ को समझने और सँजोने की आवश्यकताओं की ओर ध्यानाकर्षण की कोशिश भर है, इससे अधिक की न तो अपनी क्षमता है और न गुमान ही।

2. सदी के आर सदी के पार

सदी के पार विचारधारा के सवाल पर अनुमान का भी सहारा लिया जाना आवश्यक है। संक्षेप में कहें तो अनुमान और ज्ञान का संबंध बहुत पुराना है। अनुमान कभी ज्ञान में बदल जाता है और कभी ज्ञान नये अनुमान की आधारभूमि तैयार करता है। अनुमान और ज्ञान के बीच की आवाजाही सभ्यता के अंतर्मन में सदैव जार रहती है। अनुमान गलत साबित होते हैं, तो ज्ञान हँसता है। ज्ञान गलत होता है तो अनुमान सहारा देता है। ज्ञान में सही होने का गरूर होता है तो सजग एवं स-तर्क अनुमान में ज्ञान की ओर बढ़ने की विनम्रता होती है।

अगली सदी के प्रांरभ या इस सदी के अंत तक तक जाते-जाते 'विचार' की कौन-सी धारा 'प्रभावी' बनेगी इसके अनुमान का आरंभ एक दूसरे सिरे से करना बेहतर साबित हो सकता है। विचारधारा को बचाये जाने के सवाल को लेकर कौन लोग चिंतित हैं? विचारधारा का सवाल किन्हें परेशान करता है? कौन हैं जो विचारधारा को जीवन प्रसंग की समग्रता में कायम रखना चाहते हैं और वे कौन हैं जो विचारधारा को सभ्यता के सिर पर फालतू का बोझ समझते हैं? क्या विचारधारा किसी और के द्वारा निर्धारित और नियंत्रित जड़, यांत्रिक पूर्वग्रह है या फिर यह विकासमान जीवनानुभव से निरंतर समृद्ध विचार सरणी की अनिवार्य सूत्रबद्धताओं से निर्मित होती चलती है? 'धारा' कहने से ही एक बात साफ है, कि इस में गति होती है, नई जमीन पर यथास्थिति के तटबंधों को धकेलते हुए आगे बढ़ने का साहस होता है; न हो गति, न हो साहस तो काहे का विचार और काहे की धारा! गौर से देखिये तो असल मुसीबत की जड़ यही 'धारा' है! 'विचार' के इस 'धारा' तत्त्व का विरोध होता रहा है। क्योंकि धारा यथा-स्थिति के तटबंधों का तोड़ती है, बदलाव को बल देती है। तटबंघों पर कारोबार करनेवाले तटस्थों को चुनौती देती है। विचार तो हर किसी को चाहिए। विचार करना मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृति भी है और निवृत्ति भी है। उसके मनुष्य बनने में इस नैसर्गिक प्रवृति-निवृत्ति की जबर्दस्त भूमिका है। बिना विचारे तो वह कुछ भी नहीं करता है, अगर करता है तो अपने इस आचरण पर अधिकतर मामलों में पछताता है। जीवन का अनुभव तो यही है कि 'बिना विचारे जो करे सो पीछे पछताय'। विचारधारा का विरोध करनेवालों को विचारों के छोटे-मोटे पोखरों या विशालकाय झीलों से दिक्कत नहीं होती है, दिक्कत होती है उनकी एक धारा बनने से। क्योंकि धारा बन जाने पर ही उसमें गति और बदलाव और इच्छित दिशा देने की ताकत आती है। कहना न होगा कि गति में अपनी

दिशा अंतर्निहित होती है और गति की यह दिशा बदलाव की दिशा भी तय करती है। आर्थिक-राजीतिक बदलाव की दिशा अंतत: सामाजिक-सांस्कृतिक दशा अर्थात मानवीय रिश्तों की शक्लों में आनेवाले बदलावों को भी तय करती चलती है। इस पूरी प्रक्रिया को राजनीति संगठित करती है। साहित्य इस पूरी प्रक्रिया को मानवीय मनोभावों से संयुक्त करता है।

‘विचारधारा’ के साथ और संगति में ‘भावधारा’ भी साथ-साथ यात्रा करती है। ध्यान में लाया जा सकता है कि मुक्तिबोध के यहाँ ‘विचारधारा’ के साथ और संगति में ‘भावधारा’ की बात बारबार उठती रही है। यहाँ से देखने पर यह बात साफ होती है कि ‘भावधारा’ के अभाव में साहित्य अपना मानुष तत्त्व खोने लगता है। ‘भावधारा’ से जुड़कर राजनीति अपने अंदर मानुष-तत्त्व के लिए जगह बनाने का अवसर पा जाती है। राजनीति और साहित्य दोनों का गहरा सरोकार मानुष-तत्त्व और मानुष-सत्ता से है। विचारधारा और भावधारा से राजनीति और साहित्य के संबंध को देखें तो ‘भावधारा’ के अभाव में राजनीति महज सत्ता-संग्राम बनकर रह जाती है और ‘विचारधारा’ के अभाव में साहित्य महज वाग्विलास बन कर रह जाता है। जीवन में और इसलिए साहित्य में भी ‘विचारधारा’ और ‘भावधारा’ की संगति और संहति के संतुलन का सवाल प्रमुख रहता है। बदलाव की घनीभूत अवस्था संक्रमण कहलाती है। ‘विचारधारा’ और ‘भावधारा’ संक्रमण की दिशा और दशा का नियमन करती है, यथासंभव संक्रमण की पीड़ा को कम करती है। एक और बात का यहाँ उल्लेख जरूरी है, वह यह कि ‘भावधारा’ हमें मनुष्य होने के कारण बिना किसी विशेष शिक्षण-प्रशिक्षण के स्वत: हासिल होती है – भावधारा मनुष्य की नैसर्गिक थाती है।

विचारधारा को अर्जित करना पड़ता है, इसके लिए शिक्षण-प्रशिक्षण की जरूरत होती है। नैसर्गिक होने के कारण भावधारा अधिक बलवती होती है। विचारधारा को बलवान बनाना पड़ता है– विचारधारा को संगठित करना पड़ता है। भावधारा में बह जाना आसान होता है। विचारधारा में बने रहना कठिन होता है। बावजूद इसके यह बात ध्यान में रखने की जरूरत है कि भावधारा में संगठित होकर विचारधारा में बदल जाने की भी नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। भावधारा और विचारधारा में स्वभावगत विरोध का संबंध नहीं होता है। यह जरूर है कि चतुर-सुजान लोग भावधारा और विचारधारा में विरोध का संबंध विकसित करने में दिन-रात लगे रहते हैं। ऐसे लोग भावधारा को विचारधारा का स्थानापन्न बना देने की युक्ति भिड़ाते रहते हैं। भावधारा का विचारधारा में परिष्करण और अंतरण एक

स्वाभाविक एवं अग्रमुखी प्रक्रिया है। बिना किसी परिष्करण के भावधारा को विचारधारा का एवजी बनाना प्रतिगामी प्रक्रिया है। गौर से देखने पर यह साफ होते बहुत देर नहीं लगती है कि विचारधारा के विरोधी किस प्रकार भावधारा का इस्तेमाल अपना मतलब गाँठने के लिए करते हैं। इसलिए आज कुछ ऐसे लोग भी विचारधारा के सवाल पर घृणा से सीधे नाक-भौं सिकोरते हुए भावधारा में बहते हुए देखे जा सकते हैं, जिनके लिए कल तक विचारधारा का बड़ा महत्त्व था। दूसरी तरफ कुछ लोग विचारधारा के सवाल पर अनुराग से भावुक-लगाव प्रदर्शित करते हुए विचारधारा को जड़ बनाने के कूट-उद्यम में लग जाते हैं। अक्सर, इस भावुक लगाव को, अपने कूट-उद्यम को वे अपनी विचारधारात्मक निष्ठा मानते हैं। ये दोनों ही प्रकार के लोग विचारधारा को समझने में एक ही प्रकार की गलती करते हैं और एक ही प्रकार से विचारधारा की गतिमयता को क्षतिग्रस्त करते हैं। घृणा और प्रेम की समाज-सापेक्षता पर ठीक से गौर नहीं कर पाने के कारण ही ऐसी गलतियाँ बार-बार दुहरायी जाती रहती है। यह सच है कि सामान्य लोगों के लिए विचारधारा के प्रति लगाव और अलगाव का बहुत बड़ा आधार भावुकता ही रचती है। तथापि, यह बात सामान्य लोगों के लिए ही सच है। ध्यान में यह रखना भी आवश्यक है कि यह 'सामान्य' तत्त्व अपने मात्रात्मक विस्तार के साथ सामान्य को विशेष में बदल देता है। प्राकृतिक अनुभव यह है कि भूमि कठिन होती है और आकाश नरम। सांस्कृतिक अनुभव यह है कि भूमि अपेक्षाकृत निरापद होती है और आकाश अपेक्षाकृत जोखिमों से भरा हुआ। विचारधारा के लिए भूमि से ऊपर उठकर आकाश तक पहुँचना जरूरी होता है।

विचारधारा पर विचार करते हुए हमारा सामान्य संदर्भ तो जीवनधारा ही है लेकिन उसका विशेष पक्ष साहित्य से संबद्ध है। साहित्य में संवेदना की बात बहुत होती है। साहित्य में संवेदना का बड़ा महत्त्व होता है। इस सवाल पर गौर करना ही होगा कि साहित्य का अंतिम नियमन किससे होता है? संवेदना अर्थात भावधारा से या विचारधारा से! भावधारा साहित्य को ग्राह्य बनाती है और विचारधारा साहित्य को सार्थक बनाती है। साहित्य को अपनी ग्राह्यता भी बनाये रखना होता है और अपनी सार्थकता भी। दुहराव के जोखिम पर भी उल्लेख करना जरूरी है कि संवेदना और विचारधारा में अनिवार्य विरोध नहीं होता है, यह सच है। लेकिन सच यह भी है कि संवेदना और विचारधारा में अनिवार्य अ-विरोध भी नहीं होता है। संवेदना और विचारधारा में रचनाकार, जाने और कई बार अनजाने भी, किसके साथ हो लेता है? विचारधारा के साथ या संवेदना के साथ! किसी के 'दो टूक कलेजे का करता, पछताता पथ पर आता हुआ'[7] देखकर संवेदना के उत्पन्न होने के बाद इस स्थिति के जवाबदेह कारकों की रचनात्मक-तलाश और विनिवेश की छटपटाहट रचनाकार को विचारधारा की खोज में लगा देता है। संवेदना जहाँ साहित्य की ग्राह्यता सुनिश्चित करती है वहीं विचारधारा साहित्य की महत्त्वपूर्णता सुनिश्चित करती है। विचारधारा का सवाल

अपने-आप में संपूर्ण मानव-सत्ता के अस्तित्व का सवाल है और भावधारा का सवाल इस अस्तित्व की गरिमा का प्रसंग है। साहित्य समग्र मानव-सत्ता को अभिव्यक्त करता है। इसलिए भी विचारधारा सबसे अधिक कठिन सवाल के रूप में साहित्य में प्रकट होता है। मुक्तिबोध को याद करें तो, 'जो लोग साहित्य के केवल सौंदर्यात्मक मनोवैज्ञानिक-पक्ष को चरम मानकर चलते हैं, वे समूची मानव-सत्ता के प्रति दिलचस्पी न रखने के अपराधी तो हैं ही, साहित्य के मूलभूत तत्त्व, उनके मानवी अभिप्राय तथा-मानव विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान अर्थात दूसरे शब्दों में साहित्य के स्वरूप-विश्लेषण तथा मूल्याँकन न कर पाने के भी अपराधी हैं। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव-सत्ता का अध्ययन है; अतएव जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक सिंहावलोकन अथवा साहित्य का समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपनी इति-कर्तव्यता समझते हैं, वे भी एकपक्षीय अतिरेक करते हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात कर चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विवेचना की संपूर्ण एकात्मकता रहे।'[8]

3. विराजनीतिकरण की राजनीति

सच है कि 20वीं सदी राजनीतिकरण की और कई बार राजनीतिकरण की अतियों की भी सदी रही है। 20वीं सदी में जीवन के हर प्रसंग के राजनीतिकरण का आग्रह सक्रिय रहा। आग्रह कब दुराग्रह में बदल जाता है, पता भी नहीं चलता। दुराग्रह में असंतुलन अंतर्निहित हुआ करता है। इस असंतुलन के कारण ही 20वीं सदी के अंत तक आते-आते विचारधारा के अंत की चीख को एक तरह की आभासी वैधता मिलने लगी। इस सहज आभासी वैधता में जीवन के समस्त प्रसंगों के विराजनीतिकरण की कूट राजनीतिक लिप्सा के खुलकर खेलने का अवसर बन गया। 21वीं सदी के आते-आते ही सम्राज्यवादी-विस्तार की आकांक्षा ने विचारधारा के सक्रिय रहने को अपने रास्ते का महत्त्वपूर्ण अवरोध माना। मानवीय मेधा ने प्रारंभ में ही लक्षित कर लिया था कि संसार परिवर्त्तनशील है। परिवर्त्तनशीलता इसका अपरिवर्त्तनीय आचरण है। परिवर्त्तन की सतत जारी प्रक्रिया में मात्रात्मकता के कारण गुणात्मक और गुणसूत्रात्मक परिवर्त्तन घटित हो जाने पर सर्वस्तरीय व्यापक बदलाव परिलक्षित होता है। गुणात्मक एवं गुणसूत्रात्मक परिवर्त्तन को हम पूर्व के समापन के रूप में स्वीकरते हैं। सभ्यता के तारतम्य को देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि हर नये में पुराना कहीं-न-कहीं छुपकर बैठा रहता है। बैठा ही नहीं रहता है, बल्कि कई बार सक्रिय भी बना रहता है। उसकी सक्रियता कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि वह नये को भी पुरानी धुरी पर लौटाकर ले जाने में सफल प्रतीत होने लगता है। यह प्रतीति बार-बार छलती है। अंततः हम इस छल से इस एहसास के साथ बाहर निकलते हैं कि इतिहास अपने को

दुहराता हुआ दिखकर भी खुद को कभी दुहराता नहीं है। इतिहास दुहराव की प्रतीति रचकर अपना प्रहसन तैयार करता है। इतिहास के प्रहसन का भी सभ्यता में कम महत्त्व नहीं होता है। थकान उतराने के लिए खुद इतिहास भी अपने इस प्रहसन का आनंद लेने लगता है!

20वीं सदी में परंपरा और प्रगति का द्वंद्व विमर्श के अंत:करण का अनिवार्य हिस्सा था। उस समय प्रगति के विरुद्ध परंपरा के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर खड़ा करनेवाले विचारकों के वंशधर आज इतिहास के मरने की घोषणा करते नहीं थकते। ऐसा क्या हुआ कि परंपरा को पूजा की वस्तु माननेवाले इतिहास की मजार तालशने लगे हैं! बात इतनी-सी है कि वे साफ-साफ देख रहे हैं कि कल की प्रगति आज की परंपरा बन गई है। संगठनहीनता को स्वप्नहीनता मानने को जोखिम उठाना उनके लिए आसान नहीं है। कल की 'विचारधारा' आज के कालप्रवाह का हिस्सा है। 'विचारधारा' का प्रगति से परंपरा बन जाना न तो एक अर्थी होता है और न एक स्तरीय ही होता है। परंपरा और प्रगति का अंतर्निहित द्वंद्व प्रत्येक समय जीवंत रहता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि संक्रमण के समय में सभ्यता के अंतर्विरोध में भारी तेजी प्रकट होती है। सभ्यता के अंतर्विरोध की यह तेजी परंपरा और प्रगति के अंतर्द्वंद्व को भी प्रभावित करती है। हमारा ऐतिहासिक अनुभव बताता है कि सभ्यता के प्रगति-पक्ष को बनाये रखने की जरूरत इतिहास के हर दौर में होती है। संक्रमण-काल की एक और खासियत होती है। संक्रमण के समय इतिहास के किसी दौर में पराजित कारक फिर से खड़े हो जाते हैं। युद्ध फिर से शुरू हो जाता है! 21वीं सदी और सदी के पार 'विचारधारा' के सवाल पर सोचते हुए सभ्यता के संपूर्ण संदर्भ को विचार-पथ में दृश्य-अदृश्य स्तर पर बनाये रखना आवश्यक होगा।

4. नाजुक मोड़ पर विचार का बहाव

आज मनुष्य की स्थिति बहुत तेजी से बिगड़ती जा रही है। इस गिरावट के लिए साम्राज्यवादी विस्तार की आकांक्षा से परिचालित उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के वाहन के रूप में बाजारवाद जवाबदेह है। बाजारवाद के दुष्प्रभाव से मनुष्य की स्थिति किस तरह से बिगड़ रही है, यह अब कोई बहुत छिपी हुई बात नहीं है। पिछले डेढ़ दशक के अनुभव बहुत ही तीखे रहे हैं। बाजारवाद के पैरोकारों के आश्वासन छल साबित होते रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट की कतिपय टिप्पणियों का संदर्भ लेते हुए बहुत ही आसानी से माना जा सकता है कि 'भूमंडलीकरण का वर्तमान तरीका जरूर बदलना चाहिए। बहुत थोड़े-से लोगों को इसका लाभ मिल रहा है। बहुत सारे लोगों का न तो इसके प्रारूप में कोई दखल है और न इसकी प्रक्रिया पर कोई प्रभाव है।'[9] इसके साथ ही,

'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है— आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है।... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[10]

'रोजगार' इक्कीसवीं सदी की जनाकांक्षा का बीज शब्द है, और 'मुनाफा' बाजारवाद का मूल चरित्र। 'मुनाफा' और 'रोजगार' एक दूसरे के पूरक बनकर सभ्यता को मनोरम बना सकते हैं। 'मुनाफा' और 'रोजगार' को एक दूसरे से भिड़ाया जा रहा है। मुनाफेदारी के दुष्चक्र में फँसकर रोजगार के अवसर बन और बच नहीं पा रहे हैं। भूमंडलीकरण की चालू प्रक्रिया रोजगार के अवसरों को मार रही है। मुनाफा और रोजगार का भिड़ंत बाजारवाद और जनाकांक्षा का भिड़ंत है, इसे और खोलें तो यह कारपोरेट और जनतंत्र का भिड़ंत है। न तो काम के घंटे में कमी आ रही है, न मुनाफे के अनुपात में कामगारों को क्षतिपूर्त्ति दी जा रही है, न सुरक्षा का आश्वासन। रोजगार के अवसरों में कमी पारंपरिक आजीविका के संसाधनों में भयानक छीजन आज की सबसे बड़ी त्रासदी है। धयान देने योग्य बात है कि 'भूमंडलीकरण ने बहुत बहुत सारे लोगों की पारंपरिक आजीविका और स्थानिक समुदाय को छिन्न-भिन्न कर देने के साथ ही पर्यावरण की अक्षुण्णता एवं सांस्कृतिक विविधता के लिए खतरा पैदा कर दिया है।... भूमंडलीकरण पर होनेवाली बहस बहुत तेजी से भूमंडलीय अर्थ-व्यवस्था में जनतंत्र और सामाजिक न्याय पर केंद्रित हाती जा रही है।'[11] 'जनतंत्र' और 'सामाजिक न्याय' के सवाल को किसी भी शर्त्त पर 'जनतंत्र' और 'सामाजिक न्याय' को क्षतिग्रस्त करनेवालों या उसे मृगछल में तब्दील करनेवाले लोगों अथवा सिद्धांतों के भरोसे एक पल के लिए भी नहीं छोड़ा जा सकता है। कहना न होगा कि 'जनतंत्र' और 'सामाजिक न्याय' सभ्यता में संतुलन कायम रखनेवाले कारक हैं।

सभ्यता में असंतुलन सभ्यता के संघात को जन्म देता है। अनुभव और अध्ययन से अब इसकी पुष्टि हो चुकी है कि 'वर्त्तमान भूमंडलीय अर्थ-व्यवस्था की कार्य प्रणाली के अंदर गहराई में असंतुलनकारी तत्त्व सक्रिय हैं, यह नैतिक रूप से अ-स्वीकार्य और राजनीतिक रूप से अ-धार्य है। इन तत्त्वों का संबंध अर्थ-व्यवस्था, समाज और राजनीति के संबंधों में व्याप्त बुनियादी असंतुलन से है। अर्थ-व्यस्था धीरे-धीरे भूमंडलीय होती जा रही है, जबकि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ मोटे तौर पर स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय बनी रह

जा रही हैं। इस समय की कोई भी भूमंडलीय संस्था विश्व-बाजार में जनतांत्रिक मूल्यों के लिए न तो कोई दृष्टि विकसित कर रही है और न तो देशों के अंदर और देशों के बीच बुनियादी असमानताओं को दूर करने का उपाय कर रही है। इन असंतुलनों का दूर करने के लिए बेहतर संस्थागत रूपों और नीतियों की आवश्यकता है, तभी भूमंडलीकरण के वायदे साकार हो सकते हैं।'[12] अध्ययन यह भी बताता है कि 'आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का असंतुलन जनतांत्रिक उत्तरदायित्व को क्षतिग्रस्त करता है।'[13] इसकी अनिवार्य पहरिणति के रूप में 'अर्थ-व्यवस्था और समाज का असंतुलन सामाजिक न्याय को क्षतिग्रस्त करता है। बहुत सारे समाजों में भूमंडलीकरण की औपचारिक आर्थिक प्रक्रिया और अनौपचारिक स्थानीय आर्थिक प्रक्रिया का अंतराल बढ़ रहा है।... देशों के बीच और देश के अंदर भूमंडलीकरण के लाभ का वितरण असमान है। पाने और खोनेवालों का ध्रुवीकरण बढ़ रहा है। धनी और गरीब देशों के बीच की खाई बढ़ रही है।'[14] खाई बढ़ रही है और '(भूमंडलीकरण को) लागू करनेवाली संस्थाएँ– चाहे वे राष्ट्रीय हों या अंतर्राष्ट्रीय– देशों और लोगों की प्रतिनिधिकता एवं आनुकूलकता की नई माँग को पर्याप्त रूप से पूरी नहीं कर पा रही हैं।'[15] क्यों नहीं कर पा रही हैं? क्या ईमानदारी से वे वैसा करना चाहती हैं! इसका सीधा और दो टूक उत्तर हो सकता है– नहीं। लेकिन विरोधी संकेत देते चलना हमारे समय की विडंबना है। जो थोड़ी-बहुत चिंताएँ सामने आती हैं, उसका उद्देश्य भूमंडलीकृत वातावरण से उत्पन्न गहरे आघात झेलते लोगों के आक्रोश को शांत, सहनशील और अंतत: क्लीब समर्पण में बदल जाने तक भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को निर्बाध बनाना है। इनकी चिंता का कारण स्वाभाविक है क्योंकि 'इस समय भूमंडलीकरण की दिशा पर आक्रोश बढ़ रहा है। इसके लाभ आम आदमी के लिए दूर की कौड़ी हैं, जबकि इसके वास्तविक जोखिम की जद में हर कोई है। इसका दुष्प्रभाव अमीर-गरीब दोनों के लिए खतरनाक है।'[16]

फ्राँस के छात्र आंदोलन के मिजाज को समझें तो बात समझ में आती है कि 'यह राजनीतिक ट्रिक है कि वे आम लोगों को देश की खातिर गम खाने को कह रहे हैं और उधर बड़ी-बड़ी कंपनियाँ धनी होती जा रही हैं। यह कैसी बिडंबना है कि आम गरीब कामगार कम वेतन में और असुरक्षा में नौकरी करें और कंपनियाँ उनकी मिहनत से लाभ कमाती रहें, और अपना काम निकल जाने के बाद ये कंपनियाँ अपने कर्मचारियों को बिना बजह बाहर निकाल दें। सीपीइ ने फ्राँस में बेरोजगारी दर पर अपनी रिपोर्ट में बताया था कि 30 वर्ष से कम आयुवर्ग के लोगों में बेरोजगारी की दर 9.5 से बढ़कर 18 प्रतिशत हो गई है और 25 वर्ष से कम आयुवर्ग के लोगों में यह दर 40 प्रतिशत तक पहुँच गई है। फ्राँस में सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है, रोजगार सुरक्षा की। यह तय है कि ग्लोबलाइजेशन के बाद फ्राँस लाभ

कमानेवाली बाजार व्यवस्था बनकर रह गया है, जिसमें आम जनता और समाज के हितों को नजरअंदाज कर केवल व्यावसायिक दृष्टिकोण से फायदेमंद योजनाओं पर ही सरकार का ध्यान केंद्रित रहता है।'[17] अपने यहाँ का सच क्या है? क्या है भारत का अनुभव! बावजूद इन तथ्यों के सदाशयतापूर्ण आग्रह के, साफ कहा जाये तो, पूर्वग्रह के कारण ही कोई अध्ययन यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि 'जिन समस्याओं को हमने चिह्नित किया है वे भूमंडलीकरण से उत्पन्न नहीं हैं बल्कि इनका संबंध भूमंडलीकरण को लागू करने की त्रुटियों से है।'[18] उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के बौद्धिक प्रस्ताव के खारिज होने के बाद अब, हकीकत तो यही है कि 'चिह्नित समस्याओं' का संबंध भूमंडलीकरण को लागू करने की त्रुटियों से अधिक भूमंडलीकरण की राजनीति की 'सफलताओं' की अनिवार्य परिणतियों से है! यह सही है कि 'जनतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था पर आधारित राजनीतिक विनियोग (political governance) में, मानवाधिकारों, कानून के शासन और सामाजिक समता के प्रति सम्मान; उच्च और टिकाऊ आर्थिक वृद्धि, सार्वजनिक शुभ एवं सुरक्षा, शिक्षा एवं अन्य सामाजिक सेवाओं तक वैश्विक पहुँच से लोगों की क्षमताओं में विकास और लैंगिक समानता के प्रति प्रोत्साहन सुनिश्चित करनेवाला सक्षम राज्य; सारे वैविध्य एवं हितों को शामिल करते हुए संगठित होने एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार से संपन्न एवं सार्वजनिक हितों के प्रतिनिधि संगठनों, गरीब एवं अन्य वंचित समूह की भागीदारी एवं सामाजिक न्याय से युक्त जीवंत नागरिक समाज; सफल सामाजिक संवाद के लिए कामगारों एवं कर्मचारियों के मजबूत प्रातिनिधिक संगठन के लिए तत्काल प्रयास करना अंतर्राष्ट्रीय सहमतियों का सार होना चाहिए।'[19] तेजी से बदल रही दुनिया में भूमंडलीकरण की योजनाओं को लागू हुए इतना समय अवश्य बीत गया है जब भूमंडलीकरण के वायदे में निहित नई विश्व-व्यवस्था के मनोरथों को समझा जा सके। जैसा कि पहले ही उल्लेख हो चुका है, सच यही है कि इस समय की किसी भी वैश्विक परियोजना में सहज मानवीय आकांक्षाओं के लिए कोई सम्मान नहीं है। 'विश्व श्रम संगठन' के शासी निकाय के उपाध्यक्ष लॉर्ड बिल ब्रेट ने 2001 में कृष्णकांत को दिये गये साक्षात्कार[20] में जो कहा था उसके सारांश का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है। इसे बिंदुवार निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है:

श्रम संबंधों पर भूमंडलीकरण के प्रभाव से पूँजी और तकनीक की तरह श्रम की सचलता को महत्त्व न मिल पाना खेदजनक है।
पूँजी और श्रम यद्यपि एक दूसरे के मित्र नहीं हैं यह सच है लेकिन सच यह भी है कि ये एक दूसरे के शत्रु भी नहीं हैं, जैसा कि काफी प्रचार रहा है। दोनों को एक दूसरे की जरूरत होती है, ये एक दूसरे के पूरक और अनिवार्य सहयात्री हैं। श्रम संबंधों में सुधार का मतलब श्रमविरोधी हो जाना नहीं है। यह भ्रांत धारणा है कि पूँजी निवेश को श्रम संबंधों की

नम्यता आकर्षित करती है। घरेलू बाजार, आधारभूत संरचना, राजनीतिक स्थिरता, निर्णय की गतिशीलता विदेशी निवेश को आकृष्ट करता है।
भारत का श्रम सुधार कानून अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की रुढ़िबद्धता का शिकार है।

भारत के वित्त मंत्री श्रम सुधार पर तो बहुत बोलते हैं लेकिन (सामाजिक-सुरक्षा के सवाल पर चुप्पी साधे रहते हैं। प्रसंगवश, भारत में श्रम-कानून का उल्लंघन भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) के अंतर्गत नहीं आता है। श्रम सुधार की सफलता के लिए कर्मचारियों, सरकार और उद्योग के बीच सामाजिक संवाद और सुरक्षा के सवाल पर निरंतर विमर्श की आवश्यकता है। पूर्वी एशिया के आर्थिक विपथन के बाद दक्षिण कोरिया का उदाहरण हमारे लिए आँख खोलनेवाला है। सामाजिक संवाद और सुरक्षा के अभाव में मजदूरों ने उन्हीं संयंत्रों को क्षति पहुँचाई जो उनके कारोबार के आधार थे (मारुति उद्योग की घटना का या वैसी ही घटनाओं का स्मरण करें)। जहाँ तक भारत सहित विकासशील देशों की बात है, प्रबंधन में मजदूरों की भागीदारी, सामाजिक संवाद और सुरक्षा की बात है वहाँ सिर्फ जबानी कार्रवाई जारी है। सार्वजनिक क्षेत्रों में अतिरिक्त श्रमिकों के सवाल के हल का उपाय तो प्रशिक्षण के बाद उनके पुनर्नियोग में निहित है। यद्यपि प्रशिक्षण का मामला तो सरल है मुश्किल है उनके लिए वैकल्पिक रोजगार के अवसर का सृजन। इसलिए उनके लिए पहले वैकल्पिक रोजगार के अवसर की तलाश कर ली जानी चाहिए। पुनर्प्रशिक्षण और क्षतिपूर्ति के प्रति सचेत होना भी आवश्यक है।

'अंतर्राष्ट्रीय सहमतियों के सार' में जनतंत्र के विचार को बार उठाना लेकिन व्यवहार में उस पर नहीं, उसके विपरीत पर अमल करना यही बताता है कि बिना संगठित विचारधारा के इस लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सकता है! विचारधारा की बात जब भी हो सकती है, संगठन की सापेक्षता में ही हो सकती है। 'भूमंडलीकरण की अवधारणा का 'माया-तत्त्व' बहुत प्रभावशाली है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बौद्धिक-विभ्रम रचने की जबर्दस्त ताकत है। यह ताकत स्थिति पर प्रतीति का ऐसा मोहक आवरण चढ़ा देती है कि प्रतीति के प्रभाव से मुक्त होकर स्थिति तक पहुँच बनाना बहुत ही टेढ़ा काम हो जाता है। शृँगार इतना मोहक होता है कि सौंदर्य की तरफ ध्यान देने का अवकाश ही नहीं बचता है। शृंगार और सौंदर्य के पीछे दुल्हन के धड़कते दिल तक पहुँचने की तो बात ही दूर! दरअस्ल, भूमंडलीकरण एक पूरा पैकेज है। पैकेज की विशेषता ही यह होती है कि उसे संपूर्ण रूप से ही अपनाया अथवा छोड़ा जा सकता है। खंड रूप से अपनाने अथवा छोड़ने की निरापद गुंजाइश नहीं के बराबर रहती है। इसे छोड़ने के लिए एक समकक्ष वैकल्पिक पैकेज का होना जरूरी है। समकक्ष वैकल्पिक पैकेज का अभाव भूमंडलीकरण के पैकेज को अपनाने की बाध्यता रचता है।

समकक्ष वैकल्पिक पैकेज का अभाव भूमंडलीकरण के विरोध को भूमंडलीकरण के निर्विकल्प होने की धारणा को और सुदृढ़ बनाने में खपा देता है। समकक्ष वैकल्पिक पैकेज का बनाव और अपनाव नहीं होने के कारण भूमंडलीकरण का विरोध सिर्फ 'कलर' का विरोध बनकर रह जाता है, 'कोर' का विरोध नहीं बन पाता है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अपने विरोध को समंजित करने के लिए 'मानवीय चेहरे' ('कलर') को अपनाने की बात तो करती है, लेकिन 'मानवीय दिल' ('कोर') को अपनाने की बात नहीं करती, प्लास्टिक सर्जरी की बात तो करती है, हृदय-प्रत्यारोपण की बात नहीं करती। क्रूर कलेजे को मोहक चेहरे के साथ प्रस्तुत करती है! नतीजा यह कि समकक्ष वैकल्पिक पैकेज के अभाव में समर्थन और विरोध दोनों ही भूमंडलीकरण के रथ को आकांक्षित दिशा में ले जानेवाले 'श्याम-श्वेत' घोड़े की तरह जुत जाते हैं। यह सही है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को गहरी चुनौती मिल रही है, काफी तीव्र विरोध भी हो रहा है लेकिन यह समझना जरूरी है कि इसके बावजूद भूमंडलीकरण अवधारणा की सीमा से बाहर निकलकर उतनी ही तेजी से घटना में बदलती जा रही है। भूमंडलीकरण को समझने के लिए उसके पूरे पैकेज को और उसके समकक्ष वैकल्पिक पैकेज को भी समझना होगा।'[21]

भूमंडलीकरण जिस विचारधारा की ऊपज है उस विचारधारा को लागू करनेवाले वैश्विक स्तर पर संगठित हैं। इस विचारधारा की प्रति-विचारधारा स्थानीय स्तर पर संगठित होकर भी अपनी सूत्रबद्धताओं और संचालन की चिंता से घिरी रहती है, इनमें मानवीय रिश्तों के नियमन की चिंता भी अक्सर शामिल रहती है। इतना बड़ा काम बिना सुचिंतित और सुगुंफित विचारधारा के हो ही नहीं सकता है। इसलिए विचारधारा तो चाहिए ही चाहिए। जब तक मनुष्य है, जबतक जीवन है, जबतक बेहतरी के सपने हैं। यह बात तो आधुनिकता ने शुरुआत में ही विज्ञान-सम्मत ढंग से समझ लिया था कि आर्थिक गतिविधियों का समाज के संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है और इसे नजरअंदाज करना घातक है। इस समझ को आत्मसात करते हुए इक्कीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण साहित्य के आत्म-संयोजन की प्रक्रियाओं को चिह्नित किया जा सकता है। प्रसंगवश, बाजारवादी भूमंडलीकरण, जिसे भूमंडी-करण भी कहा जा सकता है, कोई बिल्कुल आसमान से टपकी हुई चीज नहीं है। बात सिर्फ इतनी-सी है कि विश्व में सामाजवादी शक्तियों की कारगर उपस्थिति के दिनों खुलकर बाहर आने का ऐसा औद्धत्य उसमें नहीं था। सभ्यता के आँगन में स्थगित भूत-नाच अनुकूल अवसर पाकर सक्रिय है। लेकिन ऐसा नहीं कि सबकुछ बिना किसी चुनौती के होते जाना संभव हो रहा है। इनके रास्ते के अवरोध कुछ दृश्य हैं तो बहुत कुछ अदृश्य भी हैं। प्रेमचंद के शब्द लें तो, 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा

संगठन चल नहीं सकता।’[22] इस तरह हम मान सकते हैं कि सभ्यता के विकास में आर्थिक सवाल प्रमुख रहे हैं। विचारधारा का सवाल इसी प्रमुख सवाल के जवाब ढूढ़ने के क्रम में उभरते हैं।

विचारधारा के उत्स में प्रमुख सवाल यह होता है कि उत्पादन और वितरण के संसाधनों और प्रक्रियाओं पर मालिकाना हक किसका और कितना हो। विचारधारा के सवाल का दूसरा पहलू ‘पहचान’ से जुड़ा हुआ होता है। आदमी की पहचान के सवाल भी इसी से जुड़े हुए हैं। धर्म, संस्कृति, भाषिकता, सामाजिकता, क्षेत्रीयता और राष्ट्रीयता के सवाल भी पहचान के सवाल से जुड़े हुए हैं। ध्यान से देखने पर यह बात भी बिल्कुल साफ तौर पर समझ में आती है कि पहचान के ये सारे प्रसंग भी मूलत: आर्थिक संदर्भों से जुड़े हैं। मनुष्य की संपूर्ण सत्ता के इन सारे संदर्भों का संयोजन एवं नियमन राजनीति करती आई है। पहचान के लिए आत्मान्वेषण और आत्माभिव्यिक्ति के नाना रूप और प्रकार सभ्यता में सतत सक्रिय रहते हैं। कलाओं और साहित्य की जड़ों की जटिलताओं का इससे गहरा सरोकार है। तात्पर्य यह कि, ‘इस संपूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है। तो वह राजनैतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पूरा करती, जो कि लेखक के साहित्य-निर्माण को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर टाल देती है।’[23] इसी जगह पर साहित्य और राजनीति का गहन संबंध विचारधारा से बनता है। यह निर्विकल्प है। कोई चाहे या न चाहे, वह किसी-न-किसी पक्ष के साथ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और जाने-अनजाने अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है। एक तरह की ‘विचारधारा’ प्राणपण से कोशिश करती रहती है कि विचाराधारा से मनुष्य के अनिवार्य लगाव को अप्रभावी बनाने के लिए विचाराधारा से मनुष्य के अनिवार्य लगाव के परिप्रेक्ष्य एवं परिदृश्य को धुधुँधला और अंतत: अदृश्य बना दिया जाये। चूँकि मनुष्य की संपूर्ण सत्ता का नियोजन राजीनति करती है इसीलिए यह ‘विचारधारा’ पहली चोट राजनीति पर करती है। राजनीतिक विचारधारा को अवैध बनाने की कोशिश करती है।

राजनीति और विचारधारा को विच्छिन्न करने की माँग राजनीति की अतल गहराइयों से उठाई जाती है। यही ‘विचारधारा’ दूसरी चोट साहित्य पर करती है। इसकी कोशिश होती है कि साहित्य को विचारधारा से काट दिया जाये। साहित्य से जुड़े लोगों का यह दायित्व है कि संस्कृति आँगन में मचे इस हीन-वैचारिकता के उत्पात और उपद्रव से मनुष्य को बचाने का उपक्रम किया जाये। इस उपक्रम में ही साहित्य व्यापक मानवीय विचारधारा में संवेदना के सच्चे रंग को बचा सकेगा। शिक्षा और संस्कृति के सारे उपक्रम मनुष्य के मन को अनुकूलित

करने में अपनी ऊर्जा खपाते हैं। साहित्य भी मन के अनुकूलन का काम करता है, लेकिन साहित्य इस अनुकूलन को परखता और आवश्यकतानुसार तोड़ता भी रहता है। अपने को अतिक्रमित कर आगे बढ़ने का साहस और धैर्य साहित्य की अनन्य विशिष्टता है। राजनीति जहाँ जीवन की स्थितियाँ बनाती है वहीं साहित्य जीवन के मन को बरतता है। स्वाभाविक ही है कि कुत्सित 'विचारधारा' राजनीति ओर साहित्य दोनों पर चोट करते हुए जीवन के बाहर और भीतर दोनों जगह उत्पात मचाना चाहती है। इस तरह की कुत्सित विचारधारा को ताकत और स्वीकार्यता कहाँ से मिलती है? माना कि ताकत उस पाले से मिलती है जिस पाले का हित लोगों को उलझाकर अपना उल्लू सीधा करने में होता है लेकिन स्वीकार्यता? खासकर उनके बीच स्वीकार्यता जिनके हित के विरुद्ध षड़यंत्र रचा जाता है! जिनके विरुद्ध षड़यंत्र होता है उनके पास विचारधारा से अधिक कारगर उपाय दूसरा नहीं होता है। 'यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है--- बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजाल न हो।'[24] यहाँ यह बात साफ है कि 'राजनीतिक प्रेरणा' और 'विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति' के 'कलात्मक प्रेरणा' बनने में सबसे बड़ी बाधा 'छद्म' है। कुछ लोगों के लिए 'छद्म' बहुत उपयोगी होता है! ऐसे लोग अपने 'छद्म' को छिपा लेते हैं और 'राजनीतिक प्रेरणा' और 'विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति' के 'कलात्मक प्रेरणा' बनने की संभावनाओं का निषेध करने लगते हैं।

5. संप्रभुत्वहीन राष्ट्र और आजादी का छल

भूमंडलीकरण और उसका विरोध जीवन-संगठन के समग्र का मामला है और चूँकि राजनीति 'संपूर्ण मानव-सत्ता' का समग्र संगठित करती है इसलिए निश्चित रूप से भूमंडलीकरण का विरोध राजनीतिक मामला भी है। भूमंडलीकरण के विरोध का एक पक्ष राष्ट्रवाद भी तैयार करता है। अरुण कुमार त्रिपाठी अपने ढंग से सही चिंता व्यक्त करते हैं कि 'अगर भूमंडलीकरण का विरोध इस दौर का एक राजनीतिक आंदोलन है तो वह राष्ट्रवाद की सौ साल पुरानी अवधारणा को लेकर क्यों चल रहा है? पूँजीवाद के आरंभिक दौर के राष्ट्रवाद और 'थर्ड वेव' के दौर के राष्ट्रवाद में अंतर होना चाहिए या नहीं? स्वाधीनता के संग्राम के दौरान समाजवादी और एक हद तक साम्यवादी नेताओं ने इस आयाम को संकीर्ण बनाने से रोका था। उन्होंने आग्रह किया था कि हमारा संघर्ष दुनिया विशेषकर एशिया और अफ्रीका के गुलाम देशों का प्रतिनिधि आंदोलन है इसलिए हमें अपने आंदोलन को व्यापक रखना होगा। विश्व पूँजीवाद विरोधी संघर्ष को राष्ट्रवादी राजनीति से बाहर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का भी एक नेटवर्क बनाना होगा।'[25]

यह सच है कि राष्ट्रवाद का अतीत बहुत निष्कलुष नहीं रहा है। राष्ट्रवाद में भी बहत्तर पेंच हैं। इसलिए भी रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा होगा कि 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[26] इस राष्ट्रवाद ने राष्ट्र के बाहर जो हुड़दंग मचाया वह तो जग जाहिर ही है लेकिन, राष्ट्र के अंदर भी इसने हाशिये को कम नहीं रौंदा है। आज की स्थिति तो और भी जटिल है। दुनिया भर की मुख्यधाराएँ, पुरानी शब्दावली में इन्हें राष्ट्र कहा जा सकता है, मिलकर अपनी एक साम्राज्यवादी भूमंडलीयता गढ़ रही है। हालाँकि, इस भूमंडलीयता में मुख्यधाराओं के अपने-अपने स्वार्थ, स्वप्न, संघर्ष और संघात भी हैं। इन स्वार्थों, स्वप्नों, संघर्षों और संघातों के कारण इनमें भयानक दरारें और दर्रे भी हैं। इन दरारों और दर्रों में मानवीय सभ्यता के भटकावों और स्वार्थ कवलित हो जाने के भी गहरे खतरे हैं। इसके साथ ही ध्यान में रखना चाहिए कि 'सोवियत संघ की स्थापना के साथ एक सर्वथा नई और शोषण मुक्त एवं न्यायपूर्ण मानवीय विश्व-व्यवस्था की पुरजोर संभावनाएँ सामने आईं। इस सर्वथा नई और शोषण मुक्त एवं न्यायपूर्ण मानवीय विश्व-व्यवस्था के हकीकत से जनमे सामाजिक स्वप्न में मनुष्य के प्रति सरोकार के गुणसूत्र राष्ट्रीय अस्मिता या राष्ट्रवाद की प्रेरणाओं से मुक्त थे। आत्मीयकरण के लिए राष्ट्रीय की जगह वर्गीय आधार का महत्त्व सामने आया। इस वर्गीय आधार को ध्वस्त करने में राष्ट्रवाद के कुत्सित रूप का उपयोग हुआ। राष्ट्रवाद का कुत्सित रूप शोषक और शोषितों के हितों के अंतर को भावुकता के अंतर्लेप से आच्छादित करते हुए व्यक्तियों और समुदायों को अतार्किकता के वैचारिक दलदल में ले जाकर उनके हितों की हत्या करता है। इसका जन्म इतिहास की गलत व्याख्याओं के सहारे उनके अपने वर्ग-स्वार्थ को साधे रखने की आकांक्षा से होता है। ऐसा राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास को देश का आर्थिक विकास मानता है। आर्थिक विकास के संतुलित वितरण के सामाजिक न्याय के नैतिक और मानवीय प्रसंग को ओझल कर देता है। इतना ही नहीं पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास की वेदी पर देश के आर्थिक विकास को भी न्यौछावर करता चलता है। हमारा सांप्रतिक और ऐतिहासिक अनुभव दोनों ही यह कहता है कि राष्ट्रवाद के कुत्सित रूपों ने अस्मिता के वास्तविक आधार के रूप में वर्गीय चेतना को हमेशा ही ध्वस्त किया है। लेकिन इससे राष्ट्रवाद के जनहितकारी रूप के प्रति दुराव का आना भी ठीक नहीं है। ऐतिहासिक अनुभव तो यह भी है कि राष्ट्रवाद के जनहितकारी रूप का समय पर उपयोग नहीं करने के कारण ही इसका कुत्सित रूप इतना दुष्प्रभावकारी बन पाया। असल में तत्काल का हुए बिना कालातीत होना या देश का हुए बिना देशातीत होना असंभव होता है।

सभ्यता के प्रवाह में पुराने पानी को उतारना और नये पानी को चढ़ाना एक जिटल प्रक्रिया है। 'परमानेंट पहचान' के धर्म, जाति, गोत्र, नस्ल, क्षेत्र, भाषा जैसे अबांछित बताये गये पारंपरिक तत्त्वों को अवहेलित करते हुए और इन सबसे एकदम निरपेक्ष होकर 'अस्थायी पहचान' के पद, कौशल, शिक्षा, आर्थिक-स्थिति जैसे बांछित समझे गये प्रगति-तत्त्वों का आत्मारोपण इतना आसान नहीं होता है। परंपरा के अबांछित किंतु जीवंत तत्त्वों को अवहेलित नहीं, बल्कि अंतर्वेधित करते हुए ही प्रगति-तत्त्वों का आत्मार्जन संभव होता है। अंतर्वेधन की यह संक्रमण-प्रक्रिया ही परंपरा के साथ प्रगति के न्याय की नियामिका है। संक्रमण से गुजरे बिना क्रांति बहुत लंबी छलांग हो जाती है। सफलतापूर्वक इतनी लंबी छलांग लगाना अक्सर असंभव ही होता रहा है। राष्ट्रवाद के अंतर्वेधन के पश्चात ही विश्ववाद की ओर बढ़ा जा सकता है और अस्मिता के वर्गीय आधार को हासिल किया जा सकता है। स्वाभाविक है कि आज की परिस्थिति में अस्मिता के वर्गीय और राष्ट्रीय समझ में समन्वय आज की ऐतिहासिक जरूरत है।'[27]

1950-60 के दशकों के दौरान पश्चिम के पंरपरावादी और प्रगतिवादी बुद्धिजीवियों के विभिन्न समूहों में अभिसरण का सिद्धांत[28] बहुत प्रचलित था। इस सिद्धांत ने तब रेखांकित किया था कि बहुत सारे समाजवादी तत्त्व आधुनिक पूँजीवाद में स्वीकृत हो रहे हैं साथ ही पूँजीवाद के बहुत सारे तत्त्व समाजवादी देशों में स्वीकृत हो रहे हैं। इसे वे पूँजीवाद के आधार पर दो विश्वदृष्टियों में संश्लेषण का प्रमाण मानते थे। इनकी मान्यता थी कि पूँजीवाद और समाजवाद की विश्वदृष्टियों के आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक अंतर धीरे-धीरे धूमिल हो रहे हैं और भविष्य में ये अंतर पूरी तरह से मिट जायेंगे। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के कारण विचारधारात्मक संघर्ष में इस सिद्धांत की व्यवहार्यता परीक्षणीय है। इस क्रम में हमें अभिसरण की प्रवृत्ति के साथ ही भूमंडलीकरण की नाभिकीयता में सक्रिय अपसरण (divergence) की प्रवृत्ति पर भी नजर रखनी होगी।

अगली सदी तक आते-आते विचारधारा के सवाल पर दुनिया में निश्चित ही घोर मंथन होगा। संचार के साधानों, वैज्ञानिक प्रगति एवं उपलब्धियों को जनसुलभ बनाने के तरीके, मुनाफा और रोजगार के रिश्ते, आधिकारिकता के वितरण, परमाणु सक्रियता, प्राकृतिक संसाधानों के इस्तेमाल, पर्यावरण, लैंगिक विषमता, समाज के पिछड़े वर्ग के जीवन यापन, सामुदायिक आधिकारिकता, सत्ता के विकेंद्रीकरण, मनोरंजन के अवसर, जीवन-क्षम नई नैतिकता, अस्मिताओं के आदर, वैयक्तिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता और सामाजिक दायबद्धता, आतंकवाद और शस्त्र क्रांतियों-विद्रोहों, संपत्ति पर अधिकार एवं परिवार की संरचना एवं विवाह संस्था, जनतंत्र सहित मानुष-तत्त्व जैसे मुद्दे विचारधारा के सवाल से बार-बार टकरायेंगे। इस टकराव का स्वरूप चाहे जैसा हो, लग तो यही रहा है कि साम्राज्यवाद और समाजवाद की विचारधाराएँ अपनी अंदरुनी स्थितियों के कारण बदल

जाने को बाध्य होगीं। हाँ, यह सब बहुत आसानी से नहीं होगा। सभ्यता अपने नवोन्मेष के दौर में है। नवोन्मेष में पुराना भी नया बनकर ही टिका रह पाता है। विचारधाराओं को भी नया होना होगा। विचारधारा को उसकी बाह्य एकता और आंतरिक बहुलताएँ ही टिका पायेंगी। उम्मीद की जानी चाहिए कि सब कुछ अ-शुभ ही नहीं होगा। चलिए फ़ैज को याद करते हैं कि 'ये: रातें जब अट जायेंगी/ सौ रास्ते इन से फूटेंगे/ तुम दिल को सँभालो जिसमें अभी/ सौ तरह के नश्तर टूटेंगे'[29]!

1 फ़ैज अहमद फ़ैजः सुबह-ए आजादी
2 पढ़ें - शुभ
3 पढ़ें - अशुभ
4 पढ़ें विमर्श के एक ही मुद्दे की धुरियों पर
5 पढ़ें - समता और न्याय के लिए संघर्षशील चेतना
6 पढ़ें - इस प्रकरण में स्त्री और हाशिये के समाजों की स्थिति
7 निरालाः भिक्षुक
8 मुक्तिबोधः नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्रः समाज और साहित्य
9 ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people A vision for change
10मानव विकास रिपोर्टः1996 (HDR-1996 : Growth as a means to human development)
11ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people Avision for change
12ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people Avision for change
13ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people A vision for change
14 ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people A vision for change
15 ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people A vision for change
16 ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Globalization for people A vision for change
17एलेक्स स्मिथ (द गार्जियन के स्तंभकार) मूल अंगरेजी से अनुवाद राहुल कुमारः प्रभात खबर 09अप्रैल 2006

18 ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Synopsis
19 ILO Report of 'World Commission on the Social Dimension of Globalization' 2004 : A fair Globalization : Creating opportunities for all : Synopsis
20 Economic Times 19/10/2001
21 प्रफुल्ल कोलख्यानः भूमंडलीकरण के दौर में
22 प्रेमचंदः राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयताः विविध प्रसंग-2 सं. अमृत राय
23 जनता का साहित्य किसे कहते हैं : मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5
24 कलात्मक अनुभवः मुक्तिबोध रचनावली, भाग -5
25अरुण कुमार त्रिपाठीः कट्टरता के दौर में: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005
26 रवीन्द्रनाथ ठाकुरः भारत में राष्ट्रीयता - 1917: सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-1: सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन
27 प्रफुल्ल कोलख्यानः बाजारवाद और जनतंत्रः आनंद प्रकाशन
28 Theory of Convergence - J. Galbraith, P. Sorokin, J. Tinbergen, R. Aron एवं अन्यः दर्शनकोशः प्रगति प्रकाशन
29 फ़ैज अहमद फ़ैजः पाँवों से लहू को धो डालोः प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल पेपर बैक्स 2003